

I-20. Satprarupana

Times have changed, or the world has changed?

The break-through to bring the ancient Prakrit text of Jeevatthan in a modern form was first developed in an article by Heera Lal Jain Shastri (Kakka) (Jain 1938). This article published in Jain Siddhant Bhaskar (Vol. 4, 216-224, 1938) is reprinted below. These ideas based on a decade of work were presented in the Itarsi convention of Jain Vidvat Parishad in 1934. The final version of the article was completed in April 1936. Events leading to the publication of this material in the book form as Satprarupana (Chapter A) in November 1939 are developed in Volume II. Note that when Kakka joined this publication effort in December 1938, he had already organized virtually all the steps that make up the Chapters A through D.

The strategy outlined in this scholarly article sets the intellectual and conceptual foundation for virtually all the modern work on the interpretation of the ancient Prakrit works of this genera. It brings out coherence of thought by tracing the terms and concepts scattered in the derived literature. Linguistic and conceptual continuity in the context of the #A1-23 matrix provides a criteria for ascertaining the meaning of the ancient terms. Except for the two steps the sequence of the 175 steps in this article are reproduced later in Chapter A. These 175 steps from sarvarthsiddhi of Pujypad (ca. 400 AD) are apparently the Sankrit translation Satprarupana of Jeevatthan in Prakrit. In this work not only some of the lines are missing but the meaning and intention of key Prakrit words is lost for ever (I-9, II-10, II-11).

As outlined in the appended article such concerns are key to restoring the thought process. It requires paying careful attention to the meaning and intention of written words which

can be done most effectively by pursuing the continuity of thought.

*

A few words about the tradition and content of hand written manuscripts (*pandulipi*) may be useful to set a broader context. Importance of writing down the knowledge transmitted through oral tradition was clearly recognized by Dharsen (Chapter II-18). As a result Pushpdant and Bhutbali completed writing of Jeevatthan in about 50 AD. In the process, apparently they also adopted the content of the poetic and fluid Gatha form (Chapter II-26) to the written medium. The step-wise matrix form in Jeevatthan, in which content is arranged, facilitates teaching and self-learning. As is apparent from many other Nay constructs, the stepwise matrix form was traditionally used for the interpretation and the reconstruction of the thought and reasoning from the gatha form that was used for transmission of the original thought. Clearly the step wise form facilitates learning and develops reasoning ability. This is the purpose of Nay methods.

Success of any learning method depends on retaining the integrity of the content. This may not be obvious to the learner but the responsibility of retaining the integrity lies with the teacher and commentator. Thus in subsequent works of the Jain tradition the ancient gathas are often retained intact, with a possible change in the changing linguistic style. This tradition is also apparent in the Davala commentary (Chapters II-19 and II-20). This is apparent even to this day in *vachanika* where the original is clearly delineated from the interpretations and opinions of the commentator.

Such precautions are significantly compromised in translations to other languages. As discussed in Chapter in II-11, such an unfortunate change occurred in the translation of *itthi* (in Prakrit) to *drashti* (in Sanskrit) by Pujoyapad. These two words have very different meanings: *itthi* is perception based on sum-

total of the subjective and objective considerations of individuals; at least now Drashti is used in a much narrower sense for response to visual input to point of view. The key difference comes from the subjective considerations that are integral part of the fourteen *guansthan*. Subsequent works also suffer from such departures.

In spite of their differences the currently available hand written manuscripts (pandulipis) are the only source for the reconstruction of the thought from the past. My estimate is that the number of Jain pandulipis in the various holdings are somewhere between 100,000 to 1000,000. Less than 10% of these are catalogued. It is not clear how many of these are near-complete works.

Most of the pandulipis are copies of copies of copies with occasional commentaries. It is estimated that about 1000 works may be represented by these manuscripts. Less than 100 of these are probably the original works that trace their origins prior to the 12th century AD. The rest are commentaries with noticeable and significant fragments of the earlier works. This is a very crude estimate based on conversation with well over 50 scholars who deal with such matters. Clearly, one can say little if we do not know what is out there. The only thing that is certain is that there is material from the past in need of preservation. Its loss will be the loss of the link in the 5000 year old tradition.

Written April 1936/Published March 1938.

Jain Siddhant Bhaskar, March 1938, p. 216-224.

भगवान् पुष्पदन्त और पूज्यपाद स्वामी

[लेखक—श्रीयुक्त पं० होरालाल शास्त्री]

वर्तमान में उपलब्ध होनेवाले श्रुतज्ञान के सर्वप्रथम लिपिवद्धकृतों या उद्धारक भगवान् पुष्पदन्त और भगवान् भूतयति हुए हैं। इनका समय भगवान् महाश्वर के निर्वाण के लगभग ६०० वर्ष बाद का है। भ० पुष्पदन्त ने सर्वप्रथम जिन रचना को लिपिवद्ध किया, वह सूत्रात्मक 'जीवद्वाराण' है। इसके ऊपर आचार्य बीरसेन ने 'भवला' नाम की टीका साठ हजार श्लोकों प्रमाण बनायी। आज इस सिद्धान्तशास्त्र को 'भवल' इस नाम से प्रसिद्धि है। लोकप्रसिद्धता में इस लेख में 'जीवद्वाराण-सिद्धान्त' को 'भवल-सिद्धान्त' नाम से उल्लेख करूंगा।

भ० उमाश्वरानि के तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वप्रथम टीकाकार पूज्यपाद स्वामी माने जाते हैं, हालांकि इसके पूर्व में रशानी समन्वयभद्र तत्त्वार्थ सूत्र पर 'गन्धहस्तिमहाभाष्य' के रचयिता प्रसिद्ध हैं। किन्तु आज के उपलब्ध जैन वाङ्मय में उसके अन्वय या उल्लेख न पाये जाने से ऐतिहासिकों को उस के अस्तित्व में सन्देह है। कुछ भी हो हम वक्त उस के वापस मुझे कुछ नहीं कहना है, उसका निर्वाण तो भविष्य में उपलब्ध होनेवाला जैन साहित्य ही करेगा। किन्तु यह तो निश्चित ही है कि तत्त्वार्थसूत्र पर जितनी भी दि० या श्ये० टीकाएँ उपलब्ध हैं, उन सब में 'सर्वार्थसिद्धि' ही सबसे प्राचीन मौखिक एवं प्रामाणिक मानी जाती है। पूज्यपाद का समय विक्रम की पाँचवीं-छठी शताब्दी माना जाता है और इस प्रकार से भगवान् पुष्पदन्त के लगभग पाँच सौ वर्ष बाद उनका समय ठहरता है।

सर्वार्थसिद्धि की—प्रथम अध्याय के आठवें सूत्र (सत्संख्या०) की टीका अपना खास महत्त्व रखती है। उसमें पायी जानेवाली विरोधता न राजवार्तिक में उल्लेखोंपर होती है और न श्लोक वार्तिक या तत्त्वार्थसूत्र की अन्य दि० श्ये० टीकाओं में ही। इस सूत्र की टीका का गम्भीर एवं गवेषणात्मक अध्ययन करने से पता चलता है कि पूज्यपाद स्वामी के समय तक भगवान् पुष्पदन्त के 'जीवद्वाराण' सिद्धान्त का पठन-पाठन बहुलता के साथ प्रचलित था, क्योंकि इस (सत्संख्या०) सूत्र की समग्र टीका में भवल-सिद्धान्त के मूलसूत्रों का स्पष्ट प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है।

में यहाँ पर केवल संप्रत्ययों के कुछ उद्धरण देकर उक्त बात को पुष्ट करूँगा—

धरल गिहान्त—		सर्वार्थनिधि
सत्प्रत्ययाना		प्र० अ० सू० ८
११—अथिमिच्छाद्दृष्टी	सूत्र ७	मिथ्यादृष्टिः
१२—सासयसम्माद्दृष्टी	" ८	सासदनसंयमदृष्टिः
१३—सम्मामिच्छाद्दृष्टी	" ९	सम्यग्मिथ्यादृष्टिः
१४—असंजदसम्माद्दृष्टी	" १०	असंयतसम्यग्दृष्टिः
१५—संजदासंजदा	" ११	संयतासंयतः
१६—प्रमत्तसंजदा	" १२	प्रमत्तसंयतः
१७—अप्रमत्तसंजदा	" १३	अप्रमत्तसंयतः
१८—अपूर्वकरणविद्वृत्तमुद्धिसंजदेसु अतिथि उवसमा खवा	" १४	अपूर्वकरणस्थाने उपशमकः क्षपकः
१९—अगिण्यद्विधादरसांपरागपविद्वृत्तमुद्धिसंजदेसु अतिथि उवसमा खवा	" १५	अनिवृत्तिवाद्दरसाम्परायस्थाने उपशमकः क्षपकः
२०—सूक्ष्मसांपरागपविद्वृत्तमुद्धिसंजदेसु अतिथि उवसमा खवा	" १६	सूक्ष्मसाम्परायस्थाने उपशमकः क्षपकः
२१—उवसंतकसायवीयरायल्लुमथा	" १७	उपशान्तकपायवीतरागल्लक्ष्यस्थः
२२—खीणकसोयनीयरायल्लुमत्था	" १८	क्षीणकपायवीतरागल्लक्ष्यस्थः
२३—सजोगकेवली	" १९	सयोगकेवली
२४—अजोगकेवली	" २०	अयोगकेवली चेति
२५—संतपस्वरणाद्दुविही सिद्धे सो-ओभेण आदेसेण य	" ६	सत्प्रत्ययाना द्विधा सामान्येन विशेषेण च
२६—आदेसेण गदियागुवादेण अतिथि शिरयगदी निरिक्कगदी मगुस्स-गदी देवगदी सिद्धगदी चेदि	" २२	विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ सवासु पृथ्वीषु आद्यानि चत्वारि गुणस्थानानि सन्ति
गोरइया चउट्टाणोसु अतिथि मिच्छाद्दृष्टी सामणसम्माद्दृष्टी सम्मामिच्छाद्दृष्टी असंजदसम्माद्दृष्टि ति	" २३	

१७—तिरिक्त्वा पंचसु द्वाणोसु अस्थि मिच्छाइद्री सासणसम्माइद्री सम्मा- मिच्छाइद्री असंजदसम्माइद्री संज- दासंजद ति सूत्र २४	तिर्यगतौ तान्येव त्र्यंतासंयतस्थानाधिकारि सन्ति
१८—मणुस्सा चोदसगुणाद्वाणोसु अस्थि मिच्छा०..... जाव अजागकेवलि ति ,, २५	मनुष्यगतौ चतुर्दशापि सन्ति
१९—देवा चदुसु द्वाणोसु अस्थि मिच्छा० सास० सम्मामि० असं० ,, २६	देवगतौ नारकवः
२०—एहंदिया बीहंदिया तीहंदिया चउरि० एकम्मि चैव मिच्छाइद्रीद्वाणो ,, ३४	इन्द्रियानुवादेन—एकेन्द्रियादिपु चतुरिन्द्रिय पर्यन्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्
२१—पंचिदिया० अजोगकेवलि ति ,, ३५	पंचेन्द्रियेषु चतुर्दशापि सन्ति
२२—कायाणुवादेण०..... ,, ४० पुढविकाइया आउका० तेउका० वाउका० वणपफइका० एकम्मि चैय मिच्छाइद्रीद्वाणो ,, ४१	कायानुवादेन—पृथिवीकायिकादिपु वनस्पदि कायान्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्
२३—तसकाइया बीहंदियणहुदि जाव अजोगिकेवलि ति ,, ४३	त्रसकायेषु चतुर्दशापि सन्ति
२४—जोगणुवादेण०..... ,, ४५ मणजोगो वचिजोगो कायजोगो सण्णिमिच्छाइद्रीप्पहुडि जाव सजोग- केवलि ति ,, ६२	योगानुवादेन त्रिषु योगेषु त्रयोर्दश राज्ञ स्थानानि भवन्ति
२५ - वेदाणवादेण०..... ,, ९८ इत्थि वेदा पुरिसवेदा असण्णिमिच्छा- इद्रीप्पहुडि जाव अणियद्वि ति ,, ९९ णवुंसयवेदा एहंदियणहुडि जाव जाव अणियद्वि ति ,, १००	वेदानुवादेन त्रिषु वेदेषु मिथ्यादृष्ट्या निवृत्तिवादान्तानि सन्ति ।
२६—तेण परमवगदवेदा चेदि ,, १०१	अपगत वेदेषु अनिवृत्ति वादराशयो केवल्यन्तानि ।

<p>२७—कसायागु-वादेण० क्रोधकसाई माणकसाई माया कसाई एइ'दियप्पहुडि जाव अणि- यट्टि त्ति</p>	<p>सूत्र १०८ ,, १०९</p>	<p>कपयानुवादेन क्रोधमानमायासु मिथ्या- दृष्ट्यादीनि अनियुक्तिवाद्दस्थाना- न्तानि सन्ति</p>
<p>२८—लोभकसाई एइ'दियप्पहुडि जाव सुहमसांपराइय सुद्धि संजद त्ति</p>	<p>,, ११०</p>	<p>लोभकपाये तान्येव सूक्ष्म साम्परायस्थाना- धिकानि</p>
<p>२९—अकसाई चउट्टाण्णेषु अत्थि उव- संतक्रसायवीयगायद्धदुमत्था खीणकसाय वीम० सजोगकेवली अजोगकेवलि त्ति</p>	<p>,, १११</p>	<p>अकपायः उपशान्तकपायः क्षीणकपायः सयोगकेवली अयोगकेवली चेति</p>
<p>३०—सागाणुवादेण अत्थि० मदिअण्णणी सुदअण्णणी एइ'दियप्पहुडि जाव सासण सम्माइडिठ त्ति</p>	<p>,, ११२ ,, ११३</p>	<p>ज्ञानानुवादेन मत्तज्ञानश्रुताज्ञानविभंगज्ञानेषु मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिश्चास्ति</p>
<p>विभंगण्णणं सण्णिमिच्छाइट्ठीणं वा सासणसम्माइट्ठीणं वा</p>	<p>,, ११४</p>	
<p>३१—सम्मामिच्छाइट्ठीणो निण्णि वि- ण्णण्णि अण्णणोण मिस्साणि आभिण्णोहियण्णणं मादिअण्ण- णोण मिस्सियं सुदण्णणं सुदअ- ण्णणोण मिस्सियं ओहियण्णं विभंगण्णोण मिस्सियं निण्णि वि- ण्णण्णि अण्णणोण मिस्साणि वा</p>	<p>,, ११६</p>	
<p>३२—आभिण्णोहियण्णणं सुदण्णणं ओहियण्णं असंजदसम्माइट्ठिप्प- हुडि जाव खीणकसाय वादराग- छदुमत्थ त्ति</p>	<p>,, ११७</p>	<p>आभिनिबोधकश्रुतावाधिज्ञानेषु असंयत- सम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणकपायान्तानि सन्ति</p>
<p>३३—मणपज्जवण्णणी पमत्तसंज- दप्पहुडि जाव खीणकसायवोद- राग-छदुमत्थ त्ति</p>	<p>,, ११८</p>	<p>मनःपर्ययज्ञाने प्रमत्तसंयतादयः क्षीणकपा- यान्ताः सन्ति</p>

३४—केवलव्यापी तिसु ठाणोसु सजोग- केवली अजोगकेवली सिद्धा चेदि ॥ ११५	केवलज्ञानं सयोगोऽयोगश्च
३५—संजमाणुवादेशे संजदा पमत्तसंजदप्पहुडि जाव अजोगकेवलि त्ति ॥ १२०	संयमानुवादेन संयताः प्रमत्तादयोऽपि केवल्यन्ताः ।
३६—सामाहयच्छेदोपस्थापनाशुद्धिसंज- दापमत्तसंजदप्पहुडि जाव अणियद्वि त्ति ॥ १२१	सामाधिकच्छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयताः प्रम- त्तादयोऽनिवृत्तिस्थानान्ताः ।
३७—परिहारसुद्धिसंजदा दोसु ठाणोसु पमत्तसंजददुणो अपमत्त- संजददुणो ॥ १२३	परिहारविशुद्धिसंयता प्रमत्ताप्रमत्ताश्च
३८—सुहृमसंपरायसुद्धिसंजदा एक- म्मि चैय सुहृमसंपराहयसुद्धि संजददुणो ॥ १२४	सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयता एकस्मिन्नेव सूक्ष्मसाम्परायस्थाने
३९—जहक्खादविहारसुद्धिसंजदा च- दुसु द्वाणोसु उवसंतकसायवीय- रायद्धदुमत्था खीणकसायवी० सजोगकेवली अजोग केवलि त्ति ॥ १२५	यथाख्यातविहारसुद्धिसंयताः—उपशांतक- पायादयोऽयोगकेवल्यन्ताः
४०—संजदासंजदा एकम्मि चैय संजदा-संजददुणो ॥ १२६	संयतासंयता एकस्मिन्नेव संयतासंयतस्थाने
४१—असंजदा एहंदियप्पहुडि जाव असंजदसम्माइत्ति त्ति ॥ १२७	असंयता आलोपु चतुर्षु गुणस्थानेषु
४२—दंसणाणुवादेशे० चक्खुदंसणी चउरिंदियप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायद्धदुमत्था त्ति ॥ १२८	दर्शानुवादेन चक्षुदेशनाचक्षुदेशनयो- र्मिथ्यादृष्ट्यादीनि काणकपायान्तानि सन्ति
अचक्खुदंसणी एहंदियप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायद्धदु- मत्थ त्ति ॥ १३०	
४३—ओहिदंसणी असंजदसम्माइत्ति- प्पहुडि जाव खीणकसायवीयराय द्धदुमत्थ त्ति ॥ १३१	अवधिदर्शने असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीण- कपायान्तानि

४४—केवलदर्शनी तिसु द्वाणोसु सजोग- केवली अजोगकेवली सिद्धा चेदि ,, १३२	केवलदर्शने सयोगकेवली अयोगकेवली च
४५—लेस्सावादेण० ,, १३३	लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकपोतलेश्यासु मि- थ्याहृष्ट्यादीनि असंयतसम्यग्दृष्ट्य- न्तानि सन्ति
किण्णलेस्सिया खीललेस्सिया काउ- लेस्सिया एइ'दियप्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्टि ति ,, १३४	
४६—सेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सण्णिमिच्छाईट्टिप्पहुडि जाव अपमत्तसंजद ति ,, १३५	तेजःपद्मालेश्ययोर्मिथ्याहृष्ट्यादीनि अप्रमत्त- स्थानान्तनि ।
४७—सुकलेस्सिया सण्णिमिच्छाईट्टि- प्पहुडि जाव सजोगकेवलि ति ,, १३६	शुकललेश्यायो मिथ्याहृष्ट्यादीनि सयोग- केवल्यन्तानि
४८—तेण परमलेस्सिया ,, १३७	अलेश्या अयोग-केवलिनः ।
४९—भवियाणुवादेण० ,, १३८	भव्यानुवादेन भव्येषु चतुर्दशापि सन्ति
भवसिद्धिया एइ'दियप्पहुडि जाव अजोगकेवलि ति ,, १३९	
५०—अभवसिद्धिया एकम्मि चेष मि- च्छाईट्टिट्ठाणे ,, १४०	अभव्या आय एव स्थाने
५१—सम्मत्ताणुवादेण० ,, १४१	सम्यक्त्वानुवादेन ज्ञायिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि अयोगकेवल्य- न्तानि सन्ति
सम्माइट्टीखइयसम्माइट्टीअसं- जदसम्माइट्टिप्पहुडि जाव अजोग- केवलि ति ,, १४२	
५२—वेदगसम्माइट्टी असंजदसम्मा इट्टिप्पहुडि जाव अपमत्त- संजद ति ,, १४३	ज्ञायोपशमिकसम्यक्त्वे असंयत- सम्यग्दृष्ट्यादीनि अप्रमत्तान्तानि
५३—उवसमग्गमाइट्टीअसंजदसम्मा- इट्टिप्पहुडि जाव उवसंतकसाय- वीदरागद्धुमत्थ ति ,, १४४	अपशमिकसम्यक्त्वे असंयतसम्य- ग्दृष्ट्यादीनि उपशांतकपायान्तानि
५४—सम्मामिच्छाईट्टी एकम्मि चेष सम्मामिच्छाईट्टिट्ठाणे ,, १४५	

सासणसम्माइट्टो एकम्मि चेष-		सासादनसम्यग्दृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टि
सासणसम्माइट्टिट्ठाणे	” १४६	मिथ्यादृष्टिश्च स्ये स्ये स्थाने
मिच्छाइट्टो एइंदियप्पहुडि जाव		
सण्णिमिच्छाइट्टि त्ति	” १४७	
५५—सण्णियाणुवादेण०	” १७०	संज्ञानुवादेन संज्ञिपु द्वादशागुणस्थानानि
सण्णोमिच्छाइट्टिप्पहुडि जाव		त्राणकपायन्तानि
खीणकसायत्रीयरगच्छदुमत्थ त्ति	” १७१	
५६—असण्णीएइंदियप्पहुडि जाव		असंज्ञिपु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्
असण्णपंचिदिय त्ति	” १७२	
५७—आहारानुवादेण०	” १७३	आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्ट्या
आहारा एइंदियप्पहुडि जाव		दीनि सयोगकेवल्यन्तानि
सयोगकेवलि त्ति	” १७४	
५८—अणाहारा चदुसु ट्ठाणोसु		अनाहारकेषु विप्रहगत्यापन्नेषु त्रीणि गुण
विग्गहगइसमावण्णाणां केवलीणां		स्थानानि—मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्य-
वा समुत्तादगदाणां अजोग-		असंयतसम्यग्दृष्टिश्च । समुत्तागत-
केवली सिट्ठा चेदि	” १७५	सयोगकेवली अयोगकेवली च

उपर्युक्त उद्धरणों को देखते हुए यह कहने को मन चाहता है कि मानों भगवान् पुण्यदत्त के सिद्धान्त-सूत्रों का पूज्यपाद स्वामी ने संस्कृतानुवाद कर दिया हो। किन्तु ऐसा मान लेने पर भी पूज्यपाद स्वामी के असमान पाण्डित्य में कोई शक नहीं आता, क्योंकि पूज्यपाद स्वामी के समय में संस्कृत भाषा का ही सर्वत्र प्राबल्य था। उसमें ही सर्व मतप्रदानकर्तृ के विद्वान् अपने अपने धार्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक ग्रन्थों की रचना कर रहे थे और उस समय ब्राह्मणों का संस्कृत-भाषा-पाण्डित्य सर्वत्र विचर रहा था, इसलिए जैनाचार्यों को भी यह उचित प्रतीत हुआ कि जैन वाङ्मय सम्बन्धी साहित्य की रचना भी संस्कृत भाषा में ही की जाय जिससे हमारा साहित्य जैन-साहित्य के मुकाबिले में किसी प्रकार हीन न समझा जाय। इसके पूर्व तक सारा जैन साहित्य प्राकृत भाषामय था पर पांडित्याभिमानी-ब्राह्मणों ने अपने नाटकदि ग्रंथों में संस्कृत के मुकाबिले में प्राकृत भाषा का नीचा स्थान दिया अर्थात् नीच पात्रों की भाषा प्राकृत रखी और सर्वसाधारण की दृष्टि में प्राकृत हल्की भाषा समझी जाने लगी तब जैनाचार्यों को भी संस्कृत भाषा अपनानी पड़ी।

पाठकगण यहां यह शंका उपस्थित कर सकते हैं, कि यह कैसे मान लिया जाय कि पूज्यपाद के सामने सिद्धांत-सूत्र रहे हैं और उन्होंने उनका संस्कृतानुवाद सर्वार्थसिद्धि में

किया है। परन्तु इसका उत्तर हमें इसी के नं० ३१ से मिल जाता है जिसमें मिश्रगुणस्थान के मिश्रज्ञानों का वर्णन सिद्धांतसूत्र में तो किया गया है पर सर्वार्थसिद्धि में उक्त बात बिलकुल ही नहीं सी गई है। कोई यह कह सकते हैं कि संभव है, पाठ छूट गया हो पर यथार्थ में पाठ नहीं छूटा है। किंतु जान बूझ कर यह विषय छोड़ा गया सा प्रतीत होता है। कारण कि पूज्यपाद् स्वामी के हृदय में यह तक उठा कि सम्यक्तता या मिथ्यापना हो 'दर्शन' के साथ सम्बन्ध रखने वाली वस्तुयें हैं, यहां ज्ञान में उनका क्या सम्बन्ध? फिर भी उनके हृदय में यह प्रश्न खड़ा ही रहा कि मिश्रगुणस्थानवर्ती ज्ञानों को 'ज्ञान' कहा जाय या 'अज्ञान'? यदि ज्ञान मानें—तो उनकी गिनती साम्यज्ञानरूप मणि श्रुत ज्ञान की गुणस्थान-संख्या के साथ होना चाहिए और यदि 'अज्ञान' मानें तो उनकी गिनती कुमति कुश्रुत ज्ञान के गुणस्थानों के साथ की जानी चाहिए? पर वे तो उने एकदम ही छोड़ गए हैं जो कि एक विचारणीय बात है। परन्तु ध्वजसिद्धांत के गूढ़ सूत्रकार तो उसे बहुत ही स्पष्ट सूत्र-द्वारा (सूत्र नं० ११६) उस बात को प्रकट करने हैं कि इस मिश्रगुणस्थान में जब मिश्रभाव है, तब सम्यक्त्व है, तो फिर उनके ही अज्ञान में मिश्रज्ञान भी क्यों न मान लिया जाय। इसीलिये उन्होंने उक्त अनुसार ही सूत्र में निबद्ध किया है।

श्रुतसागर सूरि ने भी श्रुतसागरी टीका में इसी स्थान पर निम्न प्रकार से शंका उठाकर इसका समाधान करना चाहा है, पर वे भी इसका उचित समाधान नहीं कर सके हैं। क्योंकि जो समाधान किया है उसकी पुष्टि किसी सिद्धांतग्रंथ से नहीं होती, बल्कि विरोध ही आता है। वह अंश इस प्रकार है:—

“सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानमज्ञानं च केवलं न संभवति, तस्याज्ञानत्रयाधारत्वात्। उक्तं च—
‘मिस्तेषाणांस्त्वयं मिस्तं अस्याणांस्तपरोति।’ तेन ज्ञानानुवादे मिश्रस्यानभिधानं, तस्याज्ञान-
प्ररूपणायामेवाभिधानं ज्ञातव्यम्। ज्ञानस्य (?) यथावस्थितार्थविषयत्वाभावात्।”

यह बात तो बिलकुल स्पष्ट ही है कि श्रुतसागरी टीका बिलकुल ही सर्वार्थसिद्धि का शब्दशः अनुकरण करती हुई लिखी गई है, जिसका अर्थ यह होता है कि श्रुतसागरसूरि के हृदय में भी यह शंका उठी कि पूज्यपाद् स्वामी ने इस मिश्रगुणस्थान में ज्ञान या अज्ञान का निरूपण क्यों नहीं किया? उसका समाधान उन्होंने उक्त रूप में करना चाहा है, पर यह एक आश्चर्य की ही बात है कि स्वयं ही सिद्धांतसूत्र का उद्धरण देते हुए उन्होंने मिश्रगुणस्थान में मिश्रज्ञान कहने का साहस नहीं किया। क्योंकि उनके ध्यान में संभवतः यह बात सामने रही-मालूम पड़ती है कि यदि हम इस गुणस्थान में मिश्रज्ञान मानेंगे तो लोग इसे पूज्यपाद्

की त्रुटि समझेंगे या फिर हमारे ही कथन को अप्रमाण समझेंगे। इसलिए उन्होंने उस बात की ओर संकेत भी किया, सिद्धांतमूत्र का उद्धरण भी दिया और एक हलका सा समाधान भी कर दिया। जो कुछ भी हो पर इतना तो इस बात से पता चलता ही है कि श्रीपूज्यपाद स्वामी के सामने सर्वार्थसिद्धि रचते समय ध्वलसिद्धांत के मूलसूत्र अवश्य थे। इस बात का और भी प्रबल समर्थन आगे की संख्या, क्षेत्र आदि प्ररूपगणनाओं के देखने से बखूबी हो जाता है जिसका यह अर्थ होता है कि आज से डेढ़ हजार वर्ष पूर्व इस सिद्धांतग्रंथ का पठन-पाठन बहुत जोरों से होता रहा है और होना ही चाहिये था—क्योंकि यही अमूल्यनिधि तो हमारे महर्षियों ने विरासत में सौंपी है।



Contents of Volume I

Representation and Quality of Perception

- I-1. What Is Of Interest?
- I-2. In Short, What Is Being About?
- I-3. Critical Contemplation
- I-4. Representation and Abstraction
- I-5. Why Look Back?
- I-6. An Ancient View of Being
- I-7. Processing Reality
- I-8. What Is In An Abstract?
- I-9. What Is in a Word?
- I-10. Defining Coordinates
- I-11. What Is Sensibility?
- I-12. Independence for Survival
- I-13. Is It Sustainable?
- I-14. Ascertaining Nature's Veracity
- I-15. What Is in a Name?
- I-16. Human Natures
- I-17. Contradiction Violates Reality
- I-18. Rationality of Self-Interest
- I-19. Tools for Representation
- I-20. Satprarupana